



E-ISSN: 2706-8927  
P-ISSN: 2706-8919  
IJAAS 2019; 1(1): 165-169  
Received: 22-05-2019  
Accepted: 24-06-2019

अखिलेन्द्र कुमार रंजन  
शोधार्थी, विश्वविद्यालय  
इतिहास-विभाग, जय प्रकाश  
विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार,  
भारत

## ब्रिटिश शासन में भारतीय पारंपरिक अर्थव्यवस्था का विघटन: एक अध्ययन

अखिलेन्द्र कुमार रंजन

### सारांश

अंग्रेजों द्वारा अपनाई जाने वाली आर्थिक नीतियों ने भारत की अर्थव्यवस्था का औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में तेजी से परिवर्तन किया, जिसकी प्रकृति और संरचना ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की जरूरतों के अनुसार निर्धारित की गई थी। इस संबंध में भारत की ब्रिटिश विजय पिछले सभी विदेशी विजय से भिन्न थी। पिछले विजेताओं ने भारतीय राजनीतिक शक्तियों को उखाड़ फेंका था, लेकिन देश की आर्थिक संरचना में कोई बुनियादी बदलाव नहीं किया था। वे धीरे-धीरे भारतीय जीवन का हिस्सा बन गए थे, राजनीतिक और साथ ही आर्थिक। किसान, कारीगर और व्यापारी पहले की तरह ही अस्तित्व का नेतृत्व करते रहे।

### प्रस्तावना

ब्रिटिश शासन में भारतीय पारंपरिक अर्थव्यवस्था का विघटन के कारण आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मूल आर्थिक प्रतिमान नष्ट हो चुका था। शासकों के परिवर्तन का अर्थ केवल उन लोगों के कार्मिकों में परिवर्तन था जिन्होंने किसानों के अधिशेष को विनियोजित किया था। लेकिन ब्रिटिश विजेता पूरी तरह से अलग थे। उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था की पारंपरिक संरचना को पूरी तरह से बाधित कर दिया।

इसके अलावा, वे कभी भी भारतीय जीवन का अभिन्न अंग नहीं बने। वे हमेशा भूमि में विदेशी बने रहे, भारतीय संसाधनों का दोहन किया और भारत की संपत्ति को श्रद्धांजलि के रूप में ले गए। ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के हितों के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था के इस अधीनता के परिणाम कई और विविध थे—

**कारिगरों और कारिगरों की बर्बादी**—शहरी हस्तशिल्प उद्योग का अचानक और त्वरित पतन हुआ जिसने सदियों तक भारत का नाम पूरी सभ्य दुनिया के बाजारों में एक साथ रखा। यह पतन ब्रिटेन से सस्ती आयातित मशीन से निर्मित सामानों के साथ प्रतिस्पर्धा के कारण हुआ।

हम जानते हैं कि अंग्रेजों ने 1813 के बाद भारत पर एक तरह से मुक्त व्यापार की नीति लागू की और ब्रिटिश सूदखोरों के आक्रमण, विशेष रूप से सूती वस्त्रों का तुरंत पालन किया। आदिम तकनीकों से बना भारतीय सामान शक्तिशाली भाप से संचालित मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुओं के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता था।

रेलवे बनने के बाद भारतीय उद्योगों, विशेषकर ग्रामीण कारिगरों के उद्योगों की बर्बादी और भी तेजी से बढ़ी। रेलवे ने ब्रिटिश मैनुफैक्चरर्स को देश के दूरस्थ गांवों में पारंपरिक उद्योगों तक पहुंचने और उखाड़ने में सक्षम बनाया। अमेरिकी लेखक के रूप में, डीएच बुकानन ने इसे रखा है, 'अलग-थलग आत्मनिर्भर गाँव का कवच स्टील रेल द्वारा छेदा गया था, और उसके जीवन का रक्त बह गया। कपास की बुनाई और कताई उद्योगों को सबसे ज्यादा नुकसान हुआ। रेशम और ऊनी वस्त्रों का कोई बेहतर प्रदर्शन नहीं हुआ और एक समान भाग्य ने लोहे, मिट्टी के बर्तनों, कांच, कागज, धातुओं, बंदूकों, शिपिंग, तेल-दबाव, टैनिंग और रंगाई उद्योगों को पीछे छोड़ दिया।

विदेशी वस्तुओं की आमद के अलावा, ब्रिटिश विजय से उत्पन्न कुछ अन्य कारकों ने भी भारतीय उद्योगों को बर्बाद करने में योगदान दिया। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के दौरान ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके नौकरों द्वारा बंगाल के कारिगरों पर किए गए अत्याचार ने उन्हें बाजार मूल्य से नीचे अपना माल बेचने और प्रचलित मजदूरी के नीचे अपनी सेवाएं देने के लिए मजबूर किया, बड़ी संख्या में मजबूर किया। उन्हें अपने पैतृक व्यवसायों को छोड़ने के लिए। सामान्य तौर पर, भारतीय हस्तशिल्प को कंपनी द्वारा उनके निर्यात को दिए गए प्रोत्साहन से लाभ हुआ होगा, लेकिन इस उत्पीड़न का विपरीत प्रभाव पड़ा।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान ब्रिटेन और यूरोप में भारतीय वस्तुओं के आयात पर लगाए गए उच्च आयात कर्तव्यों और अन्य प्रतिबंधों ने 1820 के बाद ब्रिटेन में भारतीय निर्माताओं को यूरोपीय बाजारों के आभासी समापन के लिए प्रेरित किया।

Corresponding Author:  
अखिलेन्द्र कुमार रंजन  
शोधार्थी, विश्वविद्यालय  
इतिहास-विभाग, जय प्रकाश  
विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार,  
भारत

भारतीय शासकों और उनके न्यायालयों का क्रमिक रूप से गायब होना, जो उत्पादित हस्तशिल्प के मुख्य ग्राहक थे, ने भी इन उद्योगों को एक बड़ा झटका दिया। “उदाहरण के लिए, भारतीय राज्य पूरी तरह से सैन्य हथियारों के उत्पादन में अंग्रेजों पर निर्भर थे।”

ब्रिटिशों ने अपने सभी सैन्य और अन्य सरकारी स्टोर ब्रिटेन में खरीदे। इसके अलावा, भारतीय शासकों और रईसों को ब्रिटिश अधिकारियों और सैन्य अधिकारियों द्वारा शासक वर्ग के रूप में प्रतिस्थापित किया गया था जिन्होंने अपने स्वयं के घरेलू उत्पादों को लगभग विशेष रूप से संरक्षण दिया था। इससे हस्तशिल्प की लागत में वृद्धि हुई और विदेशी वस्तुओं के साथ प्रतिस्पर्धा करने की उनकी क्षमता कम हो गई।

भारतीय हस्तशिल्पों की बर्बादी कस्बों और शहरों के खंडहर में परिलक्षित हुई जो उनके निर्माण के लिए प्रसिद्ध थे। युद्ध और लूटपाट की घटनाओं को झेलने वाले शहर ब्रिटिश विजय से बचने में विफल रहे। ढाका, सूरत, मुर्शिदाबाद और कई अन्य आबादी वाले और फलते-फूलते औद्योगिक केंद्रों को बंद कर दिया गया और कचरे को रख दिया गया।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक, शहरी आबादी कुल आबादी का मुश्किल से 10 प्रतिशत थी। विलियम बेंटिक, गवर्नर जनरल, 1834-35 में रिपोर्ट किया गया— “दुख शायद ही कभी वाणिज्य के इतिहास में एक समानांतर पाता है। सूती-बुनकरों की हड्डियां भारत के मैदानी इलाकों में ब्लीच कर रही हैं।”

त्रासदी इस तथ्य से बढ़ गई थी कि पारंपरिक उद्योगों का क्षय आधुनिक मशीन उद्योगों के विकास के साथ नहीं था जैसा कि ब्रिटेन और पश्चिमी यूरोप में हुआ था। नतीजतन, बर्बाद हस्तशिल्प और कारीगर वैकल्पिक रोजगार खोजने में विफल रहे। उनके लिए एकमात्र विकल्प कृषि में भीड़ लगाना था।

इसके अलावा, ब्रिटिश शासन ने गांवों में आर्थिक जीवन के संतुलन को भी बिगाड़ दिया। ग्रामीण शिल्प के क्रमिक विनाश ने ग्रामीण इलाकों में कृषि और घरेलू उद्योग के बीच के संबंध को तोड़ दिया और इस तरह ग्रामीण अर्थव्यवस्था को नष्ट करने में योगदान दिया।

एक ओर, लाखों किसान, जिन्होंने अंशकालिक कताई और बुनाई द्वारा अपनी आय को पूरक किया था, अब खेती पर अत्यधिक भरोसा करना थाय दूसरी ओर, लाखों ग्रामीण कारीगरों ने अपनी पारंपरिक आजीविका खो दी और छोटे भूखंडों को धारण करने वाले कृषि मजदूर या छोटे किरायेदार बन गए। उन्होंने भूमि पर सामान्य दबाव को जोड़ा। इस प्रकार ब्रिटिश विजय ने देश के डी-औद्योगीकरण का नेतृत्व किया और कृषि पर लोगों की निर्भरता बढ़ गई। पहले की अवधि के लिए कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन जनगणना रिपोर्ट के अनुसार, 1901 और 1941 के बीच अकेले कृषि पर निर्भर जनसंख्या का प्रतिशत 63-7 प्रतिशत से बढ़कर 70 प्रतिशत हो गया।

कृषि पर यह बढ़ता दबाव ब्रिटिश शासन के तहत भारत में अत्यधिक गरीबी का एक प्रमुख कारण था। वास्तव में, भारत अब ब्रिटेन के निर्माण का एक कृषि उपनिवेश बन गया, जिसे अपने उद्योगों के लिए कच्चे माल के स्रोत के रूप में इसकी आवश्यकता थी। सूती कपड़ा उद्योग की तुलना में कहीं अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। जबकि भारत सदियों से दुनिया में कपास के सामान का सबसे बड़ा निर्यातक था, अब यह ब्रिटिश कपास उत्पादों के आयातक और कच्चे कपास के निर्यातक में बदल गया था।

**किसान का प्रभाव**—ब्रिटिश शासन के तहत किसान भी प्रगतिशील रूप से गरीब था। यद्यपि वह अब आंतरिक युद्धों से मुक्त था, उसकी भौतिक स्थिति बिगड़ गई और वह लगातार गरीबी में डूब गया। बंगाल में ब्रिटिश शासन की शुरुआत में, क्लाइव और

वॉरेन हेस्टिंग्स की सबसे बड़ी भूमि राजस्व निकालने की नीति ने इतनी तबाही मचाई थी कि यहां तक कि कॉर्नवॉलिस ने भी शिकायत की थी कि बंगाल का एक तिहाई हिस्सा जंगली जानवरों द्वारा बसाया गया था।

स्थायी रूप से और अस्थायी रूप से बसे जमींदारी क्षेत्रों में, किसानों के बहुत सारे हिस्से अविश्वसनीय थे। उन्हें उन जमींदारों के रहमों पर छोड़ दिया गया, जिन्होंने असहनीय सीमा तक किराए बढ़ाए, उन्हें अवैध बकाया भुगतान करने के लिए मजबूर किया और जबर्न श्रम या भिखारी का प्रदर्शन किया और उन्हें विभिन्न अन्य तरीकों से उत्पीड़ित किया।

रयोतवारी और महलवारी क्षेत्रों में काश्तकारों की स्थिति बेहतर नहीं थी। यहाँ सरकार ने जमींदारों की जगह ली और अत्यधिक भू-राजस्व वसूल किया जो कि शुरुआत में उपज के एक-तिहाई से एक-तिहाई के बराबर था।

भूमि का भारी मूल्यांकन उन्नीसवीं सदी में गरीबी के बढ़ने और कृषि के बिगड़ने का एक मुख्य कारण था। कई समकालीन लेखकों और अधिकारियों ने इस तथ्य को नोट किया। उदाहरण के लिए, बिशप हेबर ने 1826 में लिखा था—

न तो मूल निवासी और न ही यूरोपीय कृषक, मुझे लगता है, कराधान की वर्तमान दर पर पनप सकता है। मिट्टी की कुल उपज का आधा हिस्सा सरकार द्वारा मांग की जाती है। 3 हिंदुस्तान उत्तरी भारत, में मुझे राजा के अधिकारियों के बीच एक सामान्य अनुभूति मिली... कि कंपनी के प्रांतों में किसान मूल निवासियों के विषयों की तुलना में पूरे बदतर, गरीब और अधिक विवादित हैं और यहां मद्रास में, जहां मिट्टी है, आम तौर पर बोल, गरीब, अंतर अभी भी अधिक चिह्नित होने के लिए कहा जाता है। तथ्य यह है कि कोई भी मूल निवासी राजकुमार उस किराए की मांग नहीं करता है जो हम करते हैं।

भले ही साल-दर-साल भू-राजस्व की मांग बढ़ती रही— यह रुपये से बढ़ा। 15-3 करोड़ 1857-58 में। 1936-37 में 35-8 करोड़—भूमि राजस्व के रूप में ली गई कुल उपज के अनुपात में गिरावट आई, विशेषकर बीसवीं शताब्दी में जैसे-जैसे कीमतें बढ़ीं और उत्पादन में वृद्धि हुई।

भू-राजस्व में कोई आनुपातिक वृद्धि नहीं की गई, क्योंकि जबर्न राजस्व की मांग के विनाशकारी परिणाम स्पष्ट हो गए। लेकिन अब तक कृषि पर जनसंख्या का दबाव इस हद तक बढ़ गया था कि बाद के वर्षों की कम राजस्व मांग किसानों पर भारी पड़ गई क्योंकि कंपनी के प्रशासन के पहले के वर्षों की उच्च राजस्व मांग थी।

इसके अलावा, बीसवीं शताब्दी तक, कृषि अर्थव्यवस्था बर्बाद हो गई थी और जमींदारों, साहूकारों और व्यापारियों ने गांव में गहरी पैठ बना ली थी। उच्च राजस्व मांग की बुराई को बदतर बना दिया गया क्योंकि किसान को अपने श्रम के लिए थोड़ा आर्थिक रिटर्न मिला। सरकार ने कृषि को बेहतर बनाने पर बहुत कम खर्च किया।

इसने ब्रिटिश-भारतीय प्रशासन की जरूरतों को पूरा करने, इंग्लैंड को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से श्रद्धांजलि देने और ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के हितों की सेवा करने के लिए अपनी पूरी आय को समर्पित कर दिया। यहां तक कि कानून और व्यवस्था का रखरखाव भी किसान के बजाय व्यापारी और साहूकार को फायदा पहुंचाता है।

अत्यधिक भूमि राजस्व मांग के हानिकारक प्रभावों को इसके संग्रह के कठोर तरीके से और अधिक बढ़ाया गया। भू-राजस्व को निश्चित तिथियों पर तुरंत भुगतान करना पड़ता था, भले ही फसल सामान्य से कम हो या पूरी तरह से विफल रही हो। लेकिन बुरे वर्षों में किसान को राजस्व मांग को पूरा करना मुश्किल हो गया, भले ही वह अच्छे वर्षों में ऐसा करने में सक्षम हो।

जब भी किसान भू-राजस्व का भुगतान करने में विफल रहा, सरकार ने राजस्व की बकाया राशि एकत्र करने के लिए अपनी जमीन बिक्री पर लगा दी। लेकिन ज्यादातर मामलों में किसान ने खुद ही यह कदम उठाया और सरकारी मांग को पूरा करने के लिए अपनी जमीन का कुछ हिस्सा बेच दिया। किसी भी स्थिति में वह अपनी जमीन खो देता है।

अधिक बार राजस्व का भुगतान करने में असमर्थता किसान को साहूकार से उच्च ब्याज दर पर पैसा उधार लेने के लिए प्रेरित करती है। उसने अपनी जमीन को साहूकार या अमीर किसान के पड़ोसी को गिरवी रख कर कर्ज में डूब जाना पसंद किया। जब भी उसे दोनों सिरों को पूरा करना असंभव लगता, उसे साहूकार के पास जाने के लिए मजबूर किया जाता था।

लेकिन एक बार कर्ज में डूबने के बाद उसका बाहर निकलना मुश्किल हो गया। साहूकार ने ब्याज की उच्च दरों का आरोप लगाया और चालाक और धोखेबाज उपायों के माध्यम से, जैसे कि झूठे लेखांकन, जाली हस्ताक्षर और उसने बड़ी मात्रा में उधार लेने वाले के लिए देनदार चिन्ह बना दिया, किसान को उसकी जमीन के साथ भाग लेने तक किसान को ऋण में गहरा और गहरा मिला।

साहूकार को नई कानूनी प्रणाली और नई राजस्व नीति से बहुत मदद मिली। पूर्व-ब्रिटिश काल में, साहूकार गाँव समुदाय के अधीनस्थ था। वह गाँव के बाकी लोगों द्वारा पूरी तरह से नापसंद किए जाने का व्यवहार नहीं कर सकता था। मिसाल के तौर पर, वह हमसे ब्याज की दरें नहीं वसूल सकता।

वास्तव में, ब्याज की दरें उपयोग और सार्वजनिक राय द्वारा तय की गई थीं। इसके अलावा, वह देनदार की जमीन को जब्त नहीं कर सका वह अधिक से अधिक ऋणी के व्यक्तिगत प्रभाव जैसे कि आभूषण, या उसकी खड़ी फसल के हिस्से को अपने कब्जे में ले सकता था। भूमि की हस्तांतरणीयता शुरू करने से ब्रिटिश राजस्व प्रणाली ने साहूकार या अमीर किसान को जमीन पर कब्जा करने में सक्षम बनाया।

यहां तक कि अंग्रेजों द्वारा अपनी कानूनी प्रणाली और पुलिस द्वारा स्थापित शांति और सुरक्षा का लाभ मुख्य रूप से साहूकार को मिलता था, जिसके हाथ में कानून भारी शक्ति रखता थाय उन्होंने मुकदमे की महंगी प्रक्रिया को अपने पक्ष में मोड़ने के लिए और पुलिस को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पर्स की शक्ति का इस्तेमाल किया। इसके अलावा, साक्षर और चतुर साहूकार किसान की अज्ञानता और अशिक्षा का फायदा उठाकर अनुकूल न्यायिक निर्णय प्राप्त करने के लिए कानून की जटिल प्रक्रियाओं को मोड़ सकता है।

धीरे-धीरे रयोतवारी और महलवारी क्षेत्रों में खेती करने वाले कर्ज में डूब गए और अधिक से अधिक भूमि साहूकारों, व्यापारियों, अमीर किसानों और अन्य धनवान वर्गों के हाथों में चली गई। इस प्रक्रिया को जमींदारी क्षेत्रों में दोहराया गया था जहाँ किरायेदारों ने अपने किरायेदारी के अधिकार खो दिए थे और उन्हें जमीन से बेदखल कर दिया गया था या साहूकार के मातहत बन गए थे।

काल और अकाल के समय खेती करने वालों से भूमि के हस्तांतरण की प्रक्रिया तेज हो गई थी। भारतीय किसान के पास शायद ही कभी महत्वपूर्ण समय के लिए कोई बचत थी और जब भी फसलें विफल हुईं, वह साहूकार पर न केवल भू-राजस्व का भुगतान करने के लिए बल्कि अपने और अपने परिवार को खिलाने के लिए वापस आ गया। उन्नीसवीं सदी के अंत तक, साहूकार ग्रामीण इलाकों का एक बड़ा अभिशाप बन गया था और ग्रामीण लोगों की बढ़ती गरीबी का एक महत्वपूर्ण कारण था। 1911 में कुल ग्रामीण कर्ज 300 करोड़ रुपये आंका गया था। 1937 तक यह 1800 करोड़ रुपये था। पूरी प्रक्रिया एक दुष्क्रम बन गई।

कराधान और बढ़ती गरीबी के दबाव ने किसानों को कर्ज में धकेल दिया, जिससे उनकी गरीबी बढ़ गई। वास्तव में, खेती करने वाले अक्सर यह समझने में असफल रहे कि साहूकार साम्राज्यवादी शोषण के तंत्र में एक अपरिहार्य दलदल था और उसने अपने क्रोध को उसके खिलाफ कर दिया क्योंकि वह उनकी दुर्बलता का दृश्य कारण था। उदाहरण के लिए, 1857 के विद्रोह के दौरान, जहाँ भी किसान विद्रोह में उठे, अक्सर हमले का पहला निशाना साहूकार और उनकी खाता-बही थी। इस तरह की किसान कार्रवाइयाँ जल्द ही एक सामान्य घटना बन गईं।

कृषि के बढ़ते व्यावसायीकरण ने साहूकार-सह-व्यापारी को खेती करने वाले का शोषण करने में भी मदद की। गरीब किसान को फसल के बाद अपनी उपज बेचने के लिए मजबूर किया गया था और सरकार, जमींदार और साहूकार की माँगों को पूरा करने के लिए उसे जो भी कीमत मिल सकती थी। इसने उसे अनाज व्यापारी की दया पर रखा, जो शर्तों को निर्धारित करने की स्थिति में था और जिसने अपनी उपज बाजार मूल्य से बहुत कम पर खरीदी थी। इस प्रकार कृषि उत्पादों में बढ़ते व्यापार के लाभ का एक बड़ा हिस्सा व्यापारी द्वारा छीन लिया गया, जो बहुत बार गाँव के साहूकार थे।

डी-औद्योगिकीकरण और आधुनिक उद्योग की कमी के कारण भूमि के नुकसान और अतिवृद्धि ने भूमिहीन किसानों और बर्बाद कारीगरों और हस्तशिल्पियों को साहूकारों और जमींदारों के किरायेदारों या भुखमरी मजदूरों पर खेतिहर मजदूरों या जमीनदारों के भुगतान के लिए मजबूर कर दिया। इस प्रकार सरकार, जमींदार या जमींदार, और साहूकार के ट्रिपल बोझ के तहत किसान को कुचल दिया गया।

इन तीनों ने अपना हिस्सा ले लिया था, इसके बाद खेती करने वाले और उसके परिवार के लिए बहुत कुछ नहीं बचा था। यह गणना की गई है कि 1950-51 में भूमि किराया और साहूकारों का ब्याज 1400 करोड़ रुपये था या वर्ष के लिए कुल कृषि उपज के एक तिहाई के बराबर था। इसका परिणाम यह हुआ कि अकाल की घटनाओं में वृद्धि के साथ-साथ किसानों की दुर्दशा भी जारी रही। जब भी सूखे या बाढ़ की वजह से लाखों लोग मारे गए, तब फसलों और फसलों की विफलता हुई।

### पुराने जमींदारों की बर्बादी और नए जमींदारवाद का उदय-

ब्रिटिश शासन के पहले कुछ दशकों में बंगाल और मद्रास के अधिकांश पुराने जमींदारों के खंडहर देखे गए। ऐसा विशेष रूप से वॉरेन हेस्टिंग्स की उच्चतम बोलीदाताओं को राजस्व संग्रह के अधिकारों की नीलामी करने की नीति के साथ हुआ था। 1793 के स्थायी निपटान का भी शुरुआत में एक समान प्रभाव था।

भू-राजस्व की भारीता-सरकार ने किराये के दस-ग्यारहवें हिस्से और संग्रह के कठोर कानून का दावा किया, जिसके तहत राजस्व के भुगतान में देरी के मामले में जमींदारी संपत्ति को बेरहमी से बेचा गया, पहले कुछ वर्षों तक कहर बरपाया। बंगाल के कई महान जमींदारों को पूरी तरह से बर्बाद कर दिया गया था और उन्हें अपने जमींदारी अधिकारों को बेचने के लिए मजबूर किया गया था।

1815 तक बंगाल की लगभग आधी संपत्ति पुराने जमींदारों से स्थानांतरित कर दी गई थी, जो गांवों में रहते थे और जिनके किरायेदारों, व्यापारियों और अन्य धनाढ्य वर्गों को, जो आमतौर पर शहरों में रहते थे और जिनके पास कुछ विचार दिखाने की परंपरा थी। कठिन परिस्थितियों के बावजूद किरायेदार के कारण अंतिम पाई को इकट्ठा करने में काफी क्रूर थे।

पूरी तरह से बेईमान होने और किरायेदारों के लिए थोड़ी सहानुभूति रखने के कारण, इन नए जमींदारों ने बाद वाले को रैक-किराए पर लेना और बेदखल करना शुरू कर दिया। उत्तर

मद्रास में स्थायी निपटान और उत्तर प्रदेश में अस्थायी जमींदारी बंदोबस्त स्थानीय जमींदारों पर समान रूप से कठोर थे। लेकिन जमींदारों की हालत में जल्द ही सुधार हो गया।

जमींदारों को समय पर भूमि राजस्व का भुगतान करने में सक्षम बनाने के लिए, अधिकारियों ने किरायेदारों के पारंपरिक अधिकारों को समाप्त करके किरायेदारों पर अपनी शक्ति बढ़ा दी। जमींदारों ने अब किराए को बेहद सीमित करने के लिए धक्का दिया। नतीजतन, वे तेजी से समृद्धि में बढ़ गए।

रयोतवारी क्षेत्रों में भी जमींदार-किरायेदार संबंधों की प्रणाली धीरे-धीरे फैल गई। जैसा कि हमने ऊपर देखा है, अधिक से अधिक भूमि साहूकारों, व्यापारियों और अमीर किसानों के हाथों में चली गई, जिन्हें आमतौर पर किरायेदारों द्वारा खेती की गई जमीन मिलती थी। भारतीय पैसे वाले वर्ग जमीन खरीदने और जमींदार बनने के इच्छुक थे, इसका एक कारण उद्योग में अपनी पूंजी के निवेश के लिए प्रभावी आउटलेट्स का अभाव था।

एक और प्रक्रिया जिसके माध्यम से यह भूस्वामी प्रसार हुआ, वह आत्मघाती था। कई मालिक-खेती करने वाले और रहने वाले किराएदार, जिनके पास जमीन रखने का एक स्थायी अधिकार था, उन्हें जमीन पर भूखे किरायेदारों को जमीन पर पट्टे देने के लिए अधिक सुविधाजनक लगा, जो खुद खेती करने के बजाय किराए पर लेते थे। कालांतर में, जमींदारी न केवल जमींदारी क्षेत्रों में, बल्कि रायवाड़ी में भी कृषि संबंधों की मुख्य विशेषता बन गई।

जमींदारवाद के प्रसार की एक उल्लेखनीय विशेषता सबइंप्यूडेशन या बिचौलियों की वृद्धि थी। चूंकि खेती करने वाले काश्तकार आम तौर पर असुरक्षित थे और भूमि की अधिकता के कारण किरायेदारों ने भूमि अधिग्रहण करने के लिए एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा की, भूमि का किराया बढ़ता चला गया।

जमींदारों और नए जमींदारों को लाभदायक शर्तों पर अन्य उत्सुक व्यक्तियों को किराए पर लेने के अपने अधिकार को हासिल करना सुविधाजनक लगा। लेकिन जैसे-जैसे किराए में वृद्धि हुई, भूमि के उप-लीजर्स ने अपनी भूमि में अपने अधिकारों को वापस ले लिया। इस प्रकार एक श्रृंखला-प्रक्रिया द्वारा वास्तविक कृषक और सरकार के बीच बड़ी संख्या में किराया प्राप्त करने वाले बिचौलियों का विस्तार हुआ।

बंगाल में कुछ मामलों में इनकी संख्या पचास तक पहुँच गई! असहाय खेती करने वाले काश्तकारों की दशा, जिन्हें अंततः श्रेष्ठ जमींदारों की इस भीड़ को बनाए रखने का बोझ उठाना पड़ता था, कल्पना से परे था। उनमें से कई गुलामों की तुलना में बहुत बेहतर थे।

जमींदारों और जमींदारों के उत्थान और विकास का एक अत्यंत हानिकारक परिणाम राजनीतिक भूमिका थी जो उन्होंने स्वतंत्रता के लिए भारत के संघर्ष के दौरान निभाई थी। संरक्षित राज्यों के राजकुमारों के साथ, उनमें से कई विदेशी शासकों के प्रमुख राजनीतिक समर्थक बन गए और बढ़ते राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध किया। यह महसूस करते हुए कि वे ब्रिटिश शासन के लिए अपने अस्तित्व पर बकाया थे, उन्होंने इसे बनाए रखने और बनाए रखने के लिए कड़ी मेहनत की।

भारत में ब्रिटिश उद्यमों ने मशीनरी और उपकरण, शिपिंग, बीमा कंपनियों, विपणन एजेंसियों, सरकारी अधिकारियों और राजनीतिक नेताओं के ब्रिटिश आपूर्तिकर्ताओं के साथ भारतीय आर्थिक जीवन में अपना प्रभावी स्थान बनाए रखने के लिए उनके निकट संबंध का लाभ उठाया। इसके अलावा, सरकार ने भारतीय पूंजी के खिलाफ विदेशी पूंजी के पक्ष में एक सचेत नीति का पालन किया।

सरकार की रेलवे नीति में भी भारतीय उद्यम के साथ भेदभाव किया गयाय रेलवे माल भाड़ा दरों ने घरेलू उत्पादों में व्यापार की लागत पर विदेशी आयात को प्रोत्साहित किया। आयातित वस्तुओं

को वितरित करने की तुलना में भारतीय वस्तुओं को वितरित करना अधिक कठिन और महंगा था।

भारतीय औद्योगिक प्रयास की एक और गंभीर कमजोरी भारी या पूंजीगत सामान उद्योगों की लगभग पूर्ण अनुपस्थिति थी, जिसके बिना उद्योगों का तेजी से और स्वतंत्र विकास नहीं हो सकता है। भारत में लोहे और इस्पात का उत्पादन करने के लिए या मशीनरी बनाने के लिए कोई बड़ा संयंत्र नहीं था।

कुछ छोटे मरम्मत कार्यशालाओं ने इंजीनियरिंग उद्योगों का प्रतिनिधित्व किया और कुछ लौह और पीतल की ढलाई ने धातुकर्म उद्योगों का प्रतिनिधित्व किया। भारत में पहले स्टील का उत्पादन केवल 1913 में हुआ था। इस प्रकार भारत में इस्पात, धातु विज्ञान, मशीन, रसायन और तेल जैसे बुनियादी उद्योगों का अभाव था। भारत भी बिजली के विकास में पिछड़ गया।

मशीन आधारित उद्योगों के अलावा, उन्नीसवीं सदी में इंडिगो, चाय और कॉफी जैसे वृक्षारोपण उद्योगों की वृद्धि भी देखी गई। वे स्वामित्व में लगभग विशेष रूप से यूरोपीय थे। कपड़ा निर्माण में इंडिगो का उपयोग डाई के रूप में किया जाता था। इंडिगो निर्माण भारत में अठारहवीं शताब्दी के अंत में शुरू किया गया था और बंगाल और बिहार में पनपा था।

इंडिगो प्लांटर्स ने उन किसानों पर अपने उत्पीड़न के लिए बदनामी हासिल की, जो उनके द्वारा इंडिगो की खेती के लिए मजबूर थे। इस उत्पीड़न को 1860 में अपने नाटक नील दर्पण में प्रसिद्ध बंगाली लेखक दीनबंधु मित्रा द्वारा चित्रित किया गया था। सिंथेटिक डाई के आविष्कार ने इंडिगो उद्योग को बड़ा झटका दिया और धीरे-धीरे इसमें गिरावट आई।

बागान और अन्य विदेशी स्वामित्व वाले उद्योगों का भारतीय लोगों को कोई फायदा नहीं था। उनका मुनाफा देश से बाहर चला गया। उनके वेतन बिल का एक बड़ा हिस्सा अत्यधिक भुगतान वाले विदेशी कर्मचारियों पर खर्च किया गया था। उन्होंने अपने अधिकांश उपकरण विदेश में खरीदे। उनके अधिकांश तकनीकी कर्मचारी विदेशी थे।

उनके अधिकांश उत्पाद विदेशी बाजारों में बेचे गए और जो विदेशी मुद्रा अर्जित की गई वह ब्रिटेन द्वारा उपयोग की गई। इन उद्योगों से भारतीयों को जो एकमात्र फायदा हुआ, वह था अकुशल नौकरियों का निर्माण। हालांकि, इन उद्यमों में अधिकांश श्रमिक बहुत कम वेतन वाले थे, और उन्होंने बहुत लंबे समय तक बेहद कठोर परिस्थितियों में काम किया। इसके अलावा, वृक्षारोपण में निकट-दासता की स्थिति बनी रही।

कुल मिलाकर, भारत में औद्योगिक प्रगति अत्यधिक धीमी और दर्दनाक थी। यह ज्यादातर उन्नीसवीं सदी में कपास और जूट उद्योगों और चाय बागानों तक ही सीमित था, और 1930 के दशक में चीनी और सीमेंट तक।

इसके अलावा, यहां तक कि आधुनिक उद्योगों को भी सरकारी मदद के बिना और अक्सर ब्रिटिश नीति के विरोध में विकसित होना पड़ता था। ब्रिटिश निर्माताओं ने भारतीय कपड़ा और अन्य उद्योगों को अपने प्रतिद्वंद्वियों के रूप में देखा और भारत सरकार पर दबाव डाला कि वे प्रोत्साहित न करें बल्कि भारत में औद्योगिक विकास को सक्रिय रूप से हतोत्साहित करें। इस प्रकार ब्रिटिश नीति ने कृत्रिम रूप से प्रतिबंधित और भारतीय उद्योगों के विकास को धीमा कर दिया।

इसके अलावा, भारतीय उद्योग, अभी भी शैशावावस्था की अवधि में, सुरक्षा की आवश्यकता है। वे ऐसे समय में विकसित हुए जब ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका पहले से ही शक्तिशाली उद्योग स्थापित कर चुके थे और इसलिए उनका मुकाबला नहीं कर सकते थे। वास्तव में, ब्रिटेन सहित अन्य सभी देशों ने विदेशी निर्माताओं के आयात पर भारी सीमा शुल्क लगाकर अपने शिशु उद्योगों की रक्षा की थी। लेकिन भारत एक आजाद देश नहीं था।



इसकी नीतियां ब्रिटेन में और ब्रिटिश उद्योगपतियों के हितों में निर्धारित की गई जिन्होंने अपनी कॉलोनी पर मुक्त व्यापार की नीति को मजबूर किया। उसी कारण से भारत सरकार ने नव स्थापित भारतीय उद्योगों को कोई वित्तीय या अन्य मदद देने से इनकार कर दिया, जैसा कि उस समय यूरोप और जापान की सरकारें अपने स्वयं के शिशु उद्योगों के लिए कर रही थीं।

आखिरकार, 1920 के दशक और 1930 के दशक में बढ़ते राष्ट्रवादी आंदोलन और भारतीय पूंजीवादी वर्ग के दबाव में, भारत सरकार को भारतीय उद्योगों को कुछ टैरिफ संरक्षण देने के लिए मजबूर होना पड़ा। लेकिन, एक बार फिर, सरकार ने भारतीय स्वामित्व वाले उद्योगों के साथ भेदभाव किया।

भारतीय स्वामित्व वाले उद्योग जैसे सीमेंट, लोहा और इस्पात, और कांच को सुरक्षा से वंचित कर दिया गया था या अपर्याप्त सुरक्षा दी गई थी। दूसरी ओर, विदेशी वर्चस्व वाले उद्योगों, जैसे कि मैच उद्योग, को वे सुरक्षा दी गई जो वे चाहते थे। इसके अलावा, ब्रिटिश आयातों को 'शाही वरीयताओं' की प्रणाली के तहत विशेष विशेषाधिकार दिए गए थे, भले ही भारतीयों ने वीरतापूर्वक विरोध किया था।

भारतीय औद्योगिक विकास की एक और विशेषता यह थी कि यह क्षेत्रीय रूप से बेहद लचर था। भारतीय उद्योग केवल देश के कुछ क्षेत्रों और शहरों में केंद्रित थे। देश का बड़ा हिस्सा पूरी तरह से अविकसित रह गया।

इस असमान क्षेत्रीय आर्थिक विकास ने न केवल आय में व्यापक क्षेत्रीय असमानताओं को जन्म दिया, बल्कि राष्ट्रीय एकीकरण के स्तर को भी प्रभावित किया। इसने एक एकीकृत भारतीय राष्ट्र बनाने का कार्य और कठिन बना दिया।

देश के सीमित औद्योगिक विकास का एक महत्वपूर्ण सामाजिक परिणाम भारतीय समाज में दो नए सामाजिक वर्गों का जन्म और विकास था— औद्योगिक पूंजीपति वर्ग और आधुनिक मजदूर वर्ग। ये दोनों वर्ग भारतीय इतिहास में पूरी तरह से नए थे क्योंकि आधुनिक खदानें, उद्योग और परिवहन के साधन नए थे।

भले ही इन वर्गों ने भारतीय आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा बनाया, लेकिन उन्होंने नई तकनीक, आर्थिक संगठन की एक नई प्रणाली, नए सामाजिक संबंधों, नए विचारों और एक नए दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया। उन्हें पुरानी परंपराओं, रीति-रिवाजों और जीवनशैली के बोझ से नहीं तोला गया। सबसे अधिक, उनके पास एक अखिल भारतीय दृष्टिकोण था। इसके अलावा, इन दोनों नए वर्गों को देश के औद्योगिक विकास में दिलचस्पी थी। इसलिए, उनके आर्थिक और राजनीतिक महत्व और भूमिकाएं उनकी संख्या के अनुपात से बाहर थीं।

### निष्कर्ष

मूल तथ्य यह है कि ब्रिटेन में औद्योगिक विकास और सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति का उत्पादन करने वाली समान सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं ने भी भारत में आर्थिक अविकसितता और सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन का उत्पादन किया। इन कारणों से स्पष्ट है। ब्रिटेन ने भारतीय अर्थव्यवस्था को अपनी अर्थव्यवस्था के अधीन कर लिया और अपनी जरूरतों के अनुसार भारत में बुनियादी सामाजिक प्रवृत्तियों का निर्धारण किया। इसका परिणाम भारत के कृषि और उद्योगों, जमींदारों, जमींदारों, राजकुमारों, साहूकारों, व्यापारियों, पूंजीपतियों और विदेशी सरकार और उसके अधिकारियों द्वारा शोषण और गरीबी, बीमारी और अर्ध-भुखमरी के प्रसार से था।

### संदर्भ

1. विपीन चन्द्रा, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हि.मा.कार्या.निदे., 1995, नई दिल्ली
2. बी.एल. गोयल, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, एस.

चन्द्र, 1981

3. द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885-1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया: ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डीत्रि पाठी
4. आदित्य मुखर्जी 1986, दि इंडियन कैपिटलिस्ट क्लास : आस्पेक्ट्स ऑफ इट्स इकोनॉमिक, पॉलिटिकल एंड आइडियोलॉजिकल डवलपमेंट इन दि कॉलोनियल पीरियड, 1927-47, इन सिटुएटिंग इंडियन हिस्ट्री फॉर सर्वपल्ली गोपाल, संपा. एस. भट्टाचार्य एंड आर. थापर
5. बिपिन चन्द्र 1979, नेशनलिज्म एंड कॉलोनियलिज्म इन मॉडर्न इंडिया